प्राकृत-साहित्य में उपलब्ध जैन न्याय के बीज

□ डॉ. धर्म चन्द जैन

जैन दार्शनिकों द्वारा किया गया प्रमाण-विषयक चिन्तन जैन-न्याय के नाम से जाना जाता है। जैन प्रमाण-मीमांसा का अपर नाम ही जैन-न्याय है। विकास-क्रम की दृष्टि से जैन प्रमाण-मीमांसा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. आगमवर्ती प्रमाण-निरूपण २. अनेकान्त-साहित्ययुगीन प्रमाण-निरूपण और ३. भट्ट अकलंक एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाण-निरूपण। आगमों में उपलब्ध प्रमाण-विषयक समस्त निरूपण प्राकृत भाषा में है। अनेकान्त साहित्य युगीन प्रमाण मीमांसीय चिन्तन प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। अकलंक एवं उनके पश्चात् प्रमाण पर जो कुछ लिखा गया वह प्राय: सब संस्कृत भाषा में है। गणधरों द्वारा ग्रथित होने के कारण आगमों का रचना-काल निर्धारित करना अनुपयुक्त है। अनेक साहित्ययुगीन समय को द्वितीय शती से सप्तमशती तक रखा जाता है। अकलंक का समय पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के अनुसार ७२० ई. से ७८० ई. है। जैन दर्शन में भट्ट अकलंक ने जैन न्याय को बृहद् स्तर पर व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। उनके अनन्तर आचार्य यशोविजय तक सत्रहवीं शती में भी उसका विकास होता रहा है।

जैनन्याय पर आद्य स्वतंत्र कृति सिद्धसेन का न्यायावतार है। इसमें ३२ कारिकाओं में जैन-न्याय का संक्षेप में सुन्दर निरूपण हुआ है। सिद्धसेन अनेकान्तस्थापन युग के आचार्य थे। उन्होंने प्राकृत भाषा में 'सन्मति-तर्क' की रचना की जो अनेकान्तवाद के स्थापन के साथ ज्ञानमीमांसा का भी निरुपण करती है। सन्मतितर्क में सीधा प्रमाण-विवेचन नहीं है किन्तु उसमें निहित ज्ञान का विवेचन प्रमाण-विवेचन का आधार बना है, इसीलिए अभयदेवसूरि (१०वीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती) ने इस पर तत्त्वबोधविधायिनी नामक विशाल टीका का निर्माण करते समय प्रमाण का विशद विवेचन किया है। जैन दर्शन पर संस्कृत रचनाओं में उमास्वाति (द्वितीय शती) का नाम सर्वप्रथम आता है। उमास्वाति ने पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त कर दिया था। वे मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष तथा अवधि, मनः पर्यव एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण में रखते हैं।[१] उमास्वाति के टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी का भी इस दृष्टि से प्रमाण-चिन्तन उभरकर आता है और वे प्रमाण की परिभाषा करते हैं- प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।[२] आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र में आप्त की स्तुति करते हुए अनेकान्तवाद का स्थापन किया है किन्तु कुत्रचित् प्रमाण का स्वरूप एवं आप्तवचन का स्वरूप भी निरूपित किया है।[३] श्वेताम्बर दार्शनिक मल्लवादी क्षमाश्रमण ने बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का खण्डन करते समय अपनी रचना 'द्वादशारनयचक्र' में प्रमाण की अवधारणा को स्पष्ट किया है। वे प्रमाण को सविकल्पक सिद्ध करते हैं।[४] भट्ट अकलंक के पूर्व सुमति, पात्रकेसरी आदि अन्य उद्भट दार्शनिक भी हुए हैं किन्तु इनकी कृतियां अनुपलब्ध हैं। सुमति एवं पात्रकेसरी के मत का खण्डन बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में मिलता है।[५] पात्रकेसरी ने जैन हेतु-लक्षण का स्थापन करते हुए बौद्धों द्वारा मान्य त्रिलक्षण हेतु का खण्डन किया है। पात्रकेसरी कृत खण्डन का एक श्लोक उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने अपनाया है, वह है :—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥[६]

सभी जैन दार्शनिकों ने हेतु की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति स्वीकार की है और इसे ही वे हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं।

भट्ट अकलंक के अनन्तर जैन नैयायिकों में विद्यानन्द (७७५-८४० ई.) अनन्तवीर्य (९५०-९९० ई.), माणिक्यनन्दी (९९३-१०५३ ई.), वादिराज (१०२५ ई.) प्रभाचन्द्र (९८०-१०६५ ई.), आदि दिगम्बर तथा अभयदेव (१०वीं शती), वादिदेव (१०८६-११६९ ई.) हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई.) यशोविजय (सतरहवीं शती) आदि श्वेताम्बर दार्शनिक प्रमुख हैं। इन सभी जैन दार्शनिकों ने भट्ट अकलंक द्वारा प्रतिष्ठित जैन न्याय को परपक्ष के खण्डनपूर्वक उत्तरोत्तर रूप में स्थापित किया है।

सिद्धसेन से लेकर अब तक अनेक प्रमाण-शास्त्रीय ग्रंथों एवं टीकाओं का निर्माण हो चुका है, उनमें न्यायावतार, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-परीक्षा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणनिर्णय, परीक्षामुख, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर, प्रमाण-मीमांसा, जैन तर्क भाषा आदि प्रमुख हैं किन्तु ये सभी संस्कृत भाषा में निर्मित हैं। प्राकृत भाषा में आज तक एक भी प्रमाण-विषयक कृति का निर्माण नहीं हुआ। इसका कारण जैनेत्तर दार्शनिकों के साथ वाद में सम्मिलित होना रहा है। विद्वानों एवं दार्शनिकों के पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा उस समय संस्कृत थी। उसी में विचारों का आदान प्रदान होता था। इसीलिए बौद्धों ने भी पालिभाषा के स्थान पर संस्कृत-भाषा में दार्शनिक ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ कर दी थी।

विचारणीय विषय यह है कि क्या संस्कृत-भाषा में रचित न्यायग्रंथों में निरूपित प्रमाणमीमांसा के बीज प्राकृत साहित्य में उपलब्ध है? इस प्रश्न का उत्तर निस्संदेह हां में जाता है। जैन-न्याय का समस्त प्रासाद आगम एवं आगमेतर प्राकृत-साहित्य की भित्ति पर खड़ा है। आगमों में प्राप्त ज्ञान का वर्णन ही जैन न्याय के प्रतिपादन का प्रमुख आधार बना है।

जैन न्याय में प्रमाण की ज्ञानात्मक, व्यवसायात्मक एवं स्वपर प्रकाशक माना गया है। स्व एवं पर (पदार्थ) के व्यवसायात्मक ज्ञान को जैन तार्किकों ने प्रमाण संज्ञा दी है।[७] कुछ जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान एवं तत्त्वज्ञान को भी प्रमाण कहा है।[८] नैयायिकों को अभीष्ट इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, सांख्यसम्मत इन्द्रियवृत्ति, मीमांसकाभिमतज्ञातृव्यापार एवं बौद्धाभिमत निर्विकल्पक ज्ञान जैन दार्शनिकों को प्रमाण के रूप में स्वीकार्य नहीं है। जैन-दार्शनिक निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाण नहीं मानते किन्तु सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। ज्ञान सविकल्पक ही होता है और दर्शन निर्विकल्पक। इस प्रकार ज्ञान ही जैन दर्शन में प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

इस दृष्टि से विचार करने पर नन्दीसूत्र, षट्खण्डागम, भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि प्राकृत आगमों को जैन प्रमाण-मीमांसा का प्रमुख आधार माना जा सकता है क्योंकि इनमें पांच ज्ञानों का निरूपण है। आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय और केवल, ये पांच ज्ञान जैन आगमों में प्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसिद्धि भगवान् महावीर से पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में भी थी, ऐसा राजप्रश्नीय सूत्र से ज्ञात होता है।[९] ये पांच ज्ञान ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों के रूप में विभक्त हुए हैं। आचार्य उमास्वाति ने मति एवं श्रुत ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण में तथा अवधि, मन: पर्याय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष, प्रमाण में समाविष्ट किया है। इसका आधार नन्दीसूत्र एवं स्थानांग सूत्र में मिलता है। वहां पर ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भेदों में विभक्त किया गया है।[१०] वहां प्रमाण के ये विभाजन नहीं हैं। नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान को पुन:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो भेदों में विभक्त किया गया है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइंद्रिय प्रत्यक्ष के रूप में।[११] इन्द्रियप्रत्यक्ष के पुनः पांच भेद किए गए हैं— श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, चक्षु इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष में अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान को सम्मिलित किया गया है।[१२] आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान के भेदों में प्रतिपादित किया गया है। भगवती सूत्र के शतक आठ उद्देशक दो में पांच ज्ञानों का वर्णन है। षट्खण्डागम में ज्ञानावरण कर्म का विवेचन करते समय पांच ज्ञानों का प्रतिपादन है। इनके अलावा कम्मपयडि, एवं कर्मग्रंथों में भी पंचविध ज्ञानों की चर्चा है। यह समस्त ज्ञान-चर्चा प्रमाणचर्चा का अंग बनी है।

प्रमाण में ज्ञान की व्यवसायात्मकता स्वीकार करने का आधार जैन आगम स्थानांगसूत्र में प्रमाण के लिए व्यवसाय शब्द का प्रयुक्त होना है। स्थानांगसूत्र में व्यवसाय के तीन भेद किए हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी।[१३] टीकाकार अभयदेव सूरि के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम प्रमाण एवं अनुगामी शब्द से अनुमान प्रमाण का बोध होता है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार ये ही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के 'न्यायावतार' एवं हरिभद्र के 'अनेकान्तजयपताका' ग्रंथों में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम इन तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं।[१४] व्यवसाय शब्द का प्रयोग न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष-लक्षण के अन्तर्गत हुआ है किन्तु वहां वह प्रमाण सामान्य का लक्षण नहीं बना है। स्थानांगसूत्र में प्रयुक्त व्यवसाय शब्द प्रमाण-सामान्य का द्योतक है।

प्रमाण स्व एवं पर दोनों का व्यवसायक होता है। इस मान्यता का प्राकृत-साहित्य में आधार आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा नियमसार ग्रन्थ में प्रतिपादित ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने ज्ञान एवं दर्शन दोनों को स्वपर प्रकाशक सिद्ध किया है।[१५] आचार्य सिद्धसेन एवं समन्तभद्र भी अपने प्रमाण-लक्षणों में उसे स्वपरावभास कहते हैं।[१६] यद्यपि ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता षट्खण्डागम की धवला टीका में विवाद का विषय रही है। वहां आचार्य वीरसेन ने दर्शन को स्वप्रकाशक एवं ज्ञान को पर (अर्थ) प्रकाशक स्वीकार किया है।[१७] तथापि अधिकतर दार्शनिक ज्ञान को स्वपरप्रकाशक मानते हैं इसीलिए प्रमाण को स्वपरव्यवसायात्मक प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान या प्रमाण स्व है तथा उससे भिन्न सभी पदार्थ पर।

जिस प्रकार प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का आधार नन्दीसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में प्रतिपादित ज्ञान के पच्चक्ख और परोक्ख भेद हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक भेद का आधार नन्दीसूत्र एवं जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण द्वारा प्राकृत भाषा में रचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषावश्यक भाष्य है। नन्दीसूत्र में इन्द्रिय प्रत्यक्ष का उल्लेख है[१८] तो जिनभद्र के विशेषावश्यक भाष्य में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं—इंद्रियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।[१९] भट्ट अकलंक ने संभव है इसी आधार पर प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक एवं मुख्य प्रत्यक्ष भेद किए हैं। जैन आगमों में प्रतिपादित अवधि, मन: पर्याय एवं केवल ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष हैं अत: इन्हें वास्तविक, मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया विशेषावश्यक भाष्य के प्रभाव से ही संभवत: सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय ये दो भेद किए गए।[२०] अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में मानस प्रत्यक्ष अर्थात् मन से होने वाले प्रत्यक्ष को सम्मिलित किया गया। इससे पूर्व नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष शब्द प्रचलित था जो अपने में अवधि आदि ज्ञानों का अन्तर्भाव करता था, मन: प्रत्यक्ष का नहीं।[२१]

आगम में प्रतिपादित श्रुतज्ञान ही आगम-प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। अनुयोगद्वार सूत्र में आगम-प्रमाण के लौकिक और लोकांतर ये दो भेद प्रतिपादित हैं[२२], ये ही दोनों भेद उत्तरकाल में जैनन्याय में प्रसिद्ध हुए हैं। श्रुतज्ञान के आधार पर नय, निक्षेप एवं स्याद्वाद का निरूपण भी जैन न्याय ग्रंथों का विषय बना है। अनेकान्तवाद का स्थापन करने वाले समन्तभद्र एवं सिद्धसेन के ग्रन्थ इसके लिए प्रेरणास्त्रोत रहे हैं।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाण के स्थापन का आधार प्राकृत साहित्य में अनुपलब्ध है। भट्ट अकलंक के इस नये स्थापन का आधार आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र है, जिसमें 'मति:स्मृति: संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' सूत्र के अन्तर्गत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, एवं अभिनिबोध शब्दों को मतिज्ञान का पर्यायार्थक बतलाया गया है। इनमें से स्मृति, संज्ञा एवं चिन्ता शब्दों से भट्ट अकलंक ने क्रमश: स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों का उद्भावन किया है।[२३] अभिनिबोध शब्द से वे अनुमान प्रमाण को लेते हैं। इस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान प्रमाण जो परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत विभक्त हैं, वे सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार आगम में निरूपित मतिज्ञान या आभिनिबोधिक ज्ञान जैनन्याय में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष एवं चार विभिन्न परोक्ष प्रमाणों में व्याप्त है।

अवग्रह एवं ईहाज्ञान को जैनदार्शनिकों द्वारा प्रमाण की कोटि में लिए जाने का कारण भी प्रमाण को ज्ञानात्मक स्वीकार करना है। अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा ये चारों मतिज्ञान के भेद हैं। नन्दीसूत्र में इन्हें श्रुत-निश्रित आभिनिबोधिक ज्ञान के भेद माना गया है। इन चार में अवग्रह एवं ईहाज्ञान की निश्चयात्मकता को लेकर जैनदार्शनिक एकमत नहीं हैं। अवग्रह भी फिर दो प्रकार का है—व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह। इनके स्वरूप के विषय में जैनदार्शनिकों में एकरूपता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखाई नहीं देती। अवाय एवं धारणा की निश्चयात्मकता सबको मान्य है, उसमें कोई विवाद नहीं है किन्तु अवग्रह एवं ईहाज्ञान की निश्चयात्मकता के सम्बन्ध में दो मत हैं। प्रथम मत आगमिक धारा का अनुसरण करता है जिसके अनुसार अवग्रह ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता। इस मत के प्रतिपादक, उमास्वाति, जिनभद्र, सिद्धसेनगणि, यशोविजय आदि हैं। द्वितीय मत प्रमाणशास्त्रीय धारा से प्रभावित है जिसके अनुसार अवग्रह ज्ञान निश्चयात्मक होता है। इस मत के समर्थक पूज्यपाद देवनन्दी, अकलंक, विद्यानन्दी, वादि देव सूरि आदि दार्शनिक हैं। यहां पर यह ध्यातव्य है कि प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान मानने पर अभ्यस्त दशा में अवग्रह को प्रमाण भले ही माना जा सकता है किन्तु अनभ्यस्तदशा में उसे प्रमाण मानना उचित नहीं ठहरता है।

प्रमाण निरूपण में कहीं जैन दार्शनिक आगम सापेक्ष रहे हैं तो कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से उसे व्यवहारापेक्षी भी बनाया है। प्रमाण का प्रयोजन ही हेयोपादेयता का ज्ञान करना है, अत: उसका व्यवहारापेक्ष होना आवश्यक रहा। अत: यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानकर भी उसे संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित माना है। आगम परम्परा के अनुसार सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है जबकि व्यवहार में संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसे ही जैन नैयायिक प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।[२८] इस प्रकार जैन न्याय में प्रमाण का प्रामाण्य सम्यग्दर्शन पर नहीं अपितु संशयादि दोषों की रहितता एवं संवादकता पर निर्भर करता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों को प्रतिष्ठित करना तथा हेतु के कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि भेदों का प्रतिपादन भी जैन दार्शनिकों की सांव्यवहारिक दृष्टि को स्पष्ट करता है।

आगमों में प्रतिपादित ज्ञान को प्रमाण मानने के कारण जैनदार्शनिकों के समक्ष एक समस्या उभरकर आती है। आगमों में ज्ञान प्रकट होने का सम्बन्ध ज्ञानावरण के क्षय या क्षयोपशम से है। ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम होने पर ज्ञान प्रकट होता है, अर्थ, आलोक आदि की उसमें अपेक्षा नहीं होती। किन्तु प्रमाण के सम्बन्ध में ऐसा स्वीकार करना व्यवहार को नकारना है। पदार्थ एवं प्रकाश भी प्रमाण में व्यावहारिक निमित्त होते हैं। यदि पदार्थ को प्रमाण का निमित्त नहीं मानेंगे तो प्रमाण के द्वारा किसे जाना जा रहा है, यह निश्चित नहीं हो सकेगा। ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम होने पर भी उपलब्ध पदार्थों का ही ज्ञान होगा, अनुपलब्ध पदार्थों का नहीं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मात्र जानने की योग्यता प्राप्त होती है, उससे वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता। वस्तु का ज्ञान करने के लिए वस्तु, आलोक, इन्द्रियादि को निमित्त मानना ही पड़ेगा। अत: अर्थ एवं आलोक की कारणता का जो जैनदार्शनिक आगमापेक्षी होकर खण्डन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं[२५] वह पुनः विचारणीय है।

प्राकृत-साहित्य में प्रमाण का सर्वाधिक वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में उपलब्ध होता है। वहां प्रमाण का वर्णन ज्ञान के वर्णन से स्वतंत्र है। प्रमाण का प्रयोग वहां मापन के अर्थ में हुआ है। अनुयोगद्वार सूत्र में छह प्रकार के उपक्रमों आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार एवं समवतार का विस्तृत वर्णन मिलता है।[२६] इनमें जो प्रमाण उपक्रम है उसके चार भेद किए गए हैं—द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण।[२७] इनमें द्रव्य, क्षेत्र एवं काल प्रमाण के प्रदेशनिष्पन्न एवं विभागनिष्पन्न भेद करके उनके उपभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है जिनमें परमाणु आदि द्रव्य प्रमाण, आत्मांगुल आदि क्षेत्र प्रमाण, समय, आवलिका आदि काल प्रमाण के रूप में निरूपित हैं। भावप्रमाण के तीन भेद किए गए हैं—गुण, नय और संख्या। गुण में जीव एवं अजीव से सम्बन्धित भेद किए गए हैं। फिर जीव गुण तीन प्रकार के बताए गए हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इनमें ज्ञानगुणप्रमाण के चार भेद किए गए हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) औपम्य और (४) आगम।[२८] स्थानांग सूत्र में इन्हीं चार प्रमाणों को चार हेतुओं के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[२९] भगवती सूत्र में भी इन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का उल्लेख मिलता है।[३०] स्थानांग सूत्र में द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण का भी उल्लेख मिलता है।[३१]

आगमों में उपलब्ध द्रव्य प्रमाण आदि भेदों का प्रतिपादन अन्यत्र दर्शनग्रंथों में नहीं मिलता। प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का उल्लेख महर्षि गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता में मिलता है। इनमें कौन पूर्वापर है इस पर विचार करना इस शोध-पत्र का प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वार सूत्र में इन चार प्रमाणों का जो भेदोपभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन मिलता है वह गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता में नहीं मिलता। बौद्धों के उपायहृदय ग्रंथ एवं अनुयोगद्वार सूत्र में इस दृष्टि से कुछ समानता है तथापि अनुयोगद्वार सूत्र अपने विशिष्ट वर्णन के कारण उससे अनेकत्र भिन्नता लिए हुए है। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष के दो भेद प्राप्त होते हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। ये दोनों भेद जैनेतर दर्शनग्रंथों में नहीं मिलते। अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत्, भेद करते हुए शेषवत् के कार्य, कारण, गुण, अवयव, एवं आश्रय के आधार पर पांच भेद किए गए हैं।[३२] अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान के भिन्न प्रकार से भी तीन भेद किए गए हैं—अतीत काल ग्रहण, प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण, और अनागत काल ग्रहण।[३३] ये तीनों भेद अन्यत्र नहीं मिलते। औपम्य के साधर्म्योपनीत एवं वैधर्म्योपनीत भेद करते हुए प्रत्येक के किंचित्, प्रायः एवं सर्व के आधार पर तीन तीन भेद किए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गए हैं।[३४] आगम-प्रमाण के लौकिक एवं लोकोत्तर के अतिरिक्त तीन भेद भी किए गए हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।[३५]

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण पर इस प्रकार विपुल सामग्री उपलब्ध है, तथापि इसे जैन न्याय में नहींवत् अपनाया गया है।

भद्रबाहु की निर्युक्तियां भी प्राकृत-साहित्य का अंग है। दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में भद्रबाहु ने अनुमान वाक्य के अवयवों की चर्चा करते हुए उसके दो, तीन, पांच और दस अवयव बतलाए हैं। दो अवयवों में प्रतिज्ञा एवं उदाहरण, तीन में प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण, तथा पांच अवयवों में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन को स्वीकार किया है। दस अवयवों का प्रयोग दो प्रकार से प्रतिपादित है। प्रथम प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विशुद्धि हेतु, हेतु-विशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन एवं निगमनविशुद्धि को गिनाया गया है तथा द्वितीय प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, प्रतिसेध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, और निगमन का उल्लेख है।[३६] भद्रबाहु के द्वारा प्रतिपादित अवयवों के विभिन्न भेदों से जैनदार्शनिकों को दो, तीन या पांच अवयव स्वीकार करने में प्रेरणा मिली है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आगम आदि प्राकृत-साहित्य में प्रमाण का जो स्वतंत्र निरूपण है वह जैन-न्याय के प्रमाण-निरूपण का प्रमुख आधार नहीं बना है। प्रमुख आधार बना है जैनागमों में प्रतिपादित मति, श्रुत, आदि पांच ज्ञानों का वर्णन। इन पांच ज्ञानों के वर्णन का उत्तरवर्ती प्राकृतसाहित्य में जो विकास हुआ वह भी जैन प्रमाण-मीमांसा के प्रतिपादन एवं व्यवस्थापन में सहायक सिद्ध हुआ है। ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करने के कारण जैनदार्शनिकों ने आगमानुकूल रहने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु प्रमाण को हेयोपादेय के व्यवहार से जोड़ने के कारण उसके स्वरूप में उन्होंने व्यवसायात्मकता, संशयविपर्ययादि से रहितता आदि नवीन विशेषताओं का योजन भी किया है। यही नहीं प्रमाण को सांव्यवहारिक रूप देने के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को भी प्रमाण अंगीकृत किया है। आगम की सारणी को छोड़कर इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की श्रेणि में लिया है। तथापि ज्ञानावरण के क्षयोपशम मात्र से अर्थ का ज्ञान होना स्वीकार करने तथा पदार्थ एवं आलोक आदि कारणों का निरसन करने से उनकी आगमापेक्ष बुद्धि ही स्फुटित होती है। अवग्रह एवं ईहाज्ञान को प्रमाण की कोटि में सम्मिलित करना भी जैनदार्शनिकों की आगमिक सरणि को स्पष्ट करता है।

अतः जैन प्रमाण-मीमांसा का जो प्रासाद खड़ा हुआ है उसकी भित्ति आगमों में निरूपित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान पर ही टिकी हुई है। आगम में प्रतिपादित बीज ही जैन न्याय का वटवृक्ष बने हैं, इसको स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए।

सन्दर्भ

१. आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। तत्त्वार्थसूत्र १.११-१२

२. सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ) १.१० पृ. ६९

३. आप्तमीमांसा, १०१, स्वयम्भूस्तोत्र, ६३, युक्त्यनुशासन, ४८

४. द्वादशारनयचक्र (जम्बूविजय सपादित) भाग १, पृ. ५८ से ७७

५. तत्त्वसंग्रह, १२६३-१२८३ एवं १३६३-१४२८

६. उद्धृत, अकलंक, न्यायविनिश्चय २.१५४-५५, विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ.४९ वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५२१, हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पृ. ४०

७. परीक्षामुख १.१, प्रमाणनयतत्त्वालोक १.२

८. प्रमाणपरीक्षा, पृ. १, आप्तमीमांसा, १०१

९. राजप्रश्नीय सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पृ. १६० सूत्र २४१

१०. (अ) दुविह नाणे पण्णत्ते, पच्चक्खे चेव परोक्ख चेव। —स्थानांग सूत्र १०३, सुत्तागमे, पृ. १८।

(ब) तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च। नन्दीसूत्र २

११. नन्दीसूत्र, ३ एवं अनुयोगद्वार सूत्र, जीव गुण प्रमाणद्वार।

१२. नन्दी सूत्र, ४ एवं ५

१३. स्थानाग सूत्र, ३४५ सुत्तागमे, पृ. २१५

१४. आगम युग का जैनदर्शन, पृ. १३८-३९

१५. नियमसार, १६१-१७१

१६. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्- न्यायावतार। स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्- स्वयंभू स्तोत्र, ६३

१७. धवलापुस्तक, १, ७, एवं १३

१८. नन्दीसूत्र, ३

१९. विशेषावश्यक भाष्य, ९५

२०. लघीयस्त्रय, ३ तत्र सांव्यवहारिकम्, इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् लघीयस्त्रयवृत्ति ४, अकलंकग्रन्थ त्रय पृ. ९

२१. से किं तं नोइंद्रिय पच्चक्खं? नोइंद्रिय पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं तं जहा-ओहिणाण- पच्चक्खं, मणपज्जवणाण पच्चक्खं, केवलणाणपच्चक्खं। —नन्दीसूत्र, ५

२२. आगमे दुविहे पण्णते। तं जहा- लोइए य लोगुत्तरिए य। —अनुयोगद्वार सूत्र, ४६७

२३. अकलंकग्रन्थ त्रयम् पृ. ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५

२५. नार्था लोको कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् । —परीक्षामुख २.६

२६. अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा- आणुपुव्वी नामं पमाणं वत्तव्वया अत्थाहिगारे समोयारे । —अनुयोगद्वार सूत्र, ९२

२७. पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा- दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे। —अनुयोगद्वार सूत्र, ३१३

२८. द्रष्टव्य, अनुयोग द्वार सूत्र, प्रमाणाधिकार निरूपण

२९. अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा- पच्चक्खे, अणुभाणे, ओवम्मे, आगमे । —स्थानांगसूत्र, ३३८

३०. भगवतीसूत्र ५.३.१९१-१९२

३१. स्थानांग सूत्र, २५८

३२. अनुयोग द्वार सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रमाणाधिकार

३३. अनुयोगद्वार सूत्र, ४५०

३४. वही, ४५८-४६६

३५. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमेय। अनुयोगद्वारसूत्र, ४६९

३६. दशवैकालिक निर्युक्ति, ५०

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org